भारतीय ज्ञान प्रणाली
उद्गम और विकास

सम्पादक :
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

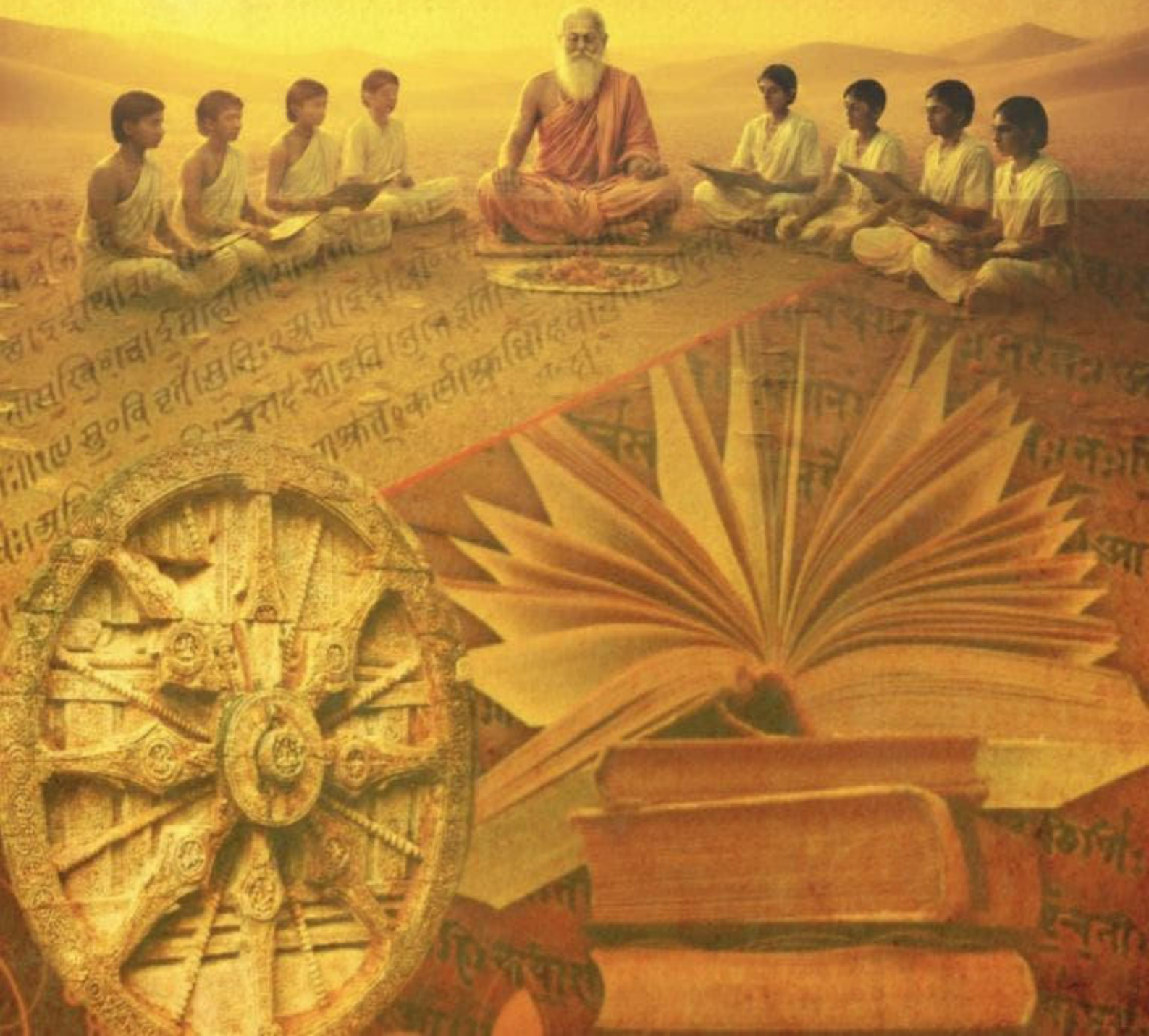

भारतीय ज्ञान प्रणाली
उद्‌गम और विकास

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001

प्रकाशक :

पुष्पा शर्मा

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,

लोहाखान, अजमेर-305001

ई-मेल : bnbajmer@gmail.com

मो. 9660111549

संस्करण

प्रथम 2026

***ISBN :* 978-81-993854-1-2**

मूल्य - 400/-

रचना - भारतीय ज्ञान प्रणाली-उद्गम और विकास

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

आवरण - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

मुद्रक

श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

22

भारतीय ज्ञान परम्परा में छात्र जीवन में आचार चिन्तन

श्वेता त्रिवेदी
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

भारतीय ज्ञान-परंपरा में छात्र जीवन एवं आचार का स्वरूप केवल शिक्षा-ग्रहण तक सीमित नहीं रहा, बल्कि उसे सम्पूर्ण जीवन-निर्माण की आधारशिला माना गया है। प्राचीन भारत में जब आध्यात्मिक विज्ञान अपने उत्कर्ष पर था, तब मनीषियों ने यह अनुभव कर लिया था कि मानव जीवन का वास्तविक लक्ष्य केवल भौतिक उपलब्धियाँ नहीं, अपितु आत्मिक शान्ति, संतुलन और आत्मबोध है। इसी दृष्टि से उन्होंने जीवन की प्रत्येक अवस्था को आध्यात्मिक कसौटी पर परखते हुए सुव्यवस्थित किया।

उनका स्पष्ट विश्वास था कि बाह्य जगत की सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील और नश्वर हैं। धन, पद, भोग और वैभव क्षणिक हैं तथा इनके आधार पर स्थायी सुख की स्थापना संभव नहीं है। इसके विपरीत आत्मिक जगत अनश्वर है। उसमें परिवर्तन भले ही रूप या अभिव्यक्ति में दिखाई दे, किंतु उसका मूल तत्व स्थिर और शाश्वत रहता है। इन परिवर्तनों के साथ जो संस्कार मनुष्य के भीतर अंकित होते हैं, वही उसके व्यक्तित्व और चरित्र की मौलिकता का निर्माण करते हैं। इसी कारण संस्कारों को जीवन का सबसे महत्वपूर्ण आधार माना गया।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था को चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—के संतुलन पर आधारित किया गया। इन पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए चार आश्रमों की कल्पना की गई, जिनमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास सम्मिलित हैं। मनीषियों को यह भली-भाँति ज्ञात था कि जीवन की आगे की सभी अवस्थाएँ तभी सफल और व्यवस्थित हो सकती हैं, जब उनकी नींव सुदृढ़ और वैज्ञानिक हो। इसी कारण प्रथम आश्रम को ब्रह्मचर्य आश्रम के रूप में स्थापित किया गया।

ब्रह्मचर्य आश्रम का मनोवैज्ञानिक अर्थ केवल शारीरिक संयम नहीं, बल्कि

मन, इन्द्रियों और विचारों का अनुशासन है। यह वह काल है जब मनुष्य के व्यक्तित्व की आधारभूत रेखाएँ खिंचती हैं। इसी अवस्था में बुद्धि का विकास होता है, विचार-शक्ति सुदृढ़ होती है और मानसिक प्रवृत्तियों को उचित दिशा मिलती है। जिस प्रकार का वातावरण विद्यार्थी को प्राप्त होता है और जैसे आचार-विचार वह अपनाता है, उसी के अनुरूप उसकी मानसिक संरचना विकसित होती है। यही मानसिक प्रवृत्तियाँ आगे चलकर उसके कर्म, निर्णय, सुख और दु:ख का कारण बनती हैं।

भारतीय परंपरा में छात्र जीवन को अत्यन्त मनोवैज्ञानिक, अनुशासित और सदाचारपूर्ण बनाया गया। विद्यार्थी का दैनिक जीवन सरल, संयमित और नियमित होता था। गुरु के सान्निध्य में रहकर वह केवल शास्त्रों का अध्ययन नहीं करता था, बल्कि सेवा, विनय, श्रद्धा, सत्य, अहिंसा और आत्मसंयम जैसे गुणों को व्यवहार में उतारता था। शिक्षा का उद्देश्य केवल जानकारी देना नहीं, बल्कि चरित्र निर्माण करना था। इसीलिए विद्यार्थी के आचार-व्यवहार, दिनचर्या और सामाजिक आचरण के लिए सूक्ष्म और भावपूर्ण नियम बनाए गए।

गुरु के अभिवादन का स्वरूप एवं छात्र के कर्तव्य :

गुरु के अभिवादन का स्वरूप एवं छात्र के कर्तव्य भारतीय ज्ञान-परंपरा में अत्यन्त गम्भीर, मनोवैज्ञानिक और साधनात्मक भावभूमि पर प्रतिष्ठित हैं। उपनयन संस्कार के साथ ही बालक का जीवन एक नये चरण में प्रवेश करता था। माता-पिता उसे गुरु के समीप सौंप देते थे, जिससे वह विद्या-प्राप्ति के साथ-साथ सुव्यवस्थित और संयमपूर्ण ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत कर सके। यह समर्पण मात्र औपचारिक नहीं होता था, बल्कि जीवन की सम्पूर्ण दिशा बदल देने वाला संस्कार था। इसी क्षण से छात्र का निजी जीवन गुरु-केंद्रित हो जाता था और उसका प्रत्येक दिन, प्रत्येक कर्म नियम और संयम से आबद्ध हो जाता था।

ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरु छात्र के जीवन का प्रधान संचालक माना जाता था। उसकी आज्ञा छात्र के लिये अविचारणीय, सर्वमान्य और धर्म के समान होती थी। गुरु की आज्ञा पर प्रश्न उठाना न तो शिष्ट माना जाता था और न ही ब्रह्मचर्य के अनुकूल। इसका कारण यह था कि गुरु को केवल शिक्षक नहीं, अपितु जीवन-पथ का द्रष्टा, अनुशासक और संस्कारदाता माना जाता था। आज्ञा-पालन के माध्यम से ही छात्र में विनय, धैर्य, श्रद्धा और आत्मसंयम जैसे गुण विकसित होते थे।

गुरु के अभिवादन की प्रक्रिया भी अत्यन्त भावपूर्ण और मनोवैज्ञानिक थी। विद्यार्थी गुरु के समक्ष उपस्थित होकर शुद्ध मन और श्रद्धा के साथ दोनों हाथों से गुरु के चरणों का स्पर्श करता था। दाहिने हाथ से गुरु के दाहिने चरण और बायें हाथ से

बायें चरण का स्पर्श करते हुए वह अपने भीतर पूर्ण समर्पण, कृतज्ञता और श्रद्धा का भाव जाग्रत करता था। यह केवल बाह्य क्रिया नहीं थी, बल्कि आन्तरिक रूप से अहंकार के विसर्जन और गुरु के प्रति आत्मसमर्पण का प्रतीक थी। चरण-स्पर्श की इस परंपरा में यह गहन मनोवैज्ञानिक तथ्य निहित है कि जब मनुष्य किसी के चरणों में नतमस्तक होता है, तो उसके भीतर स्वत: ही विनम्रता, श्रद्धा और अनुशासन का भाव उत्पन्न होता है, जो मानव-हृदय का एक मूल गुण है।

दैनिक जीवन में विद्यार्थी प्रात:काल उठकर नित्यकर्म, स्नान आदि से निवृत्त होकर देवताओं, ऋषियों और पितरों का तर्पण करता था। शिव, विष्णु आदि देवताओं का पूजन तथा विधिवत हवन उसके नित्यकर्म में सम्मिलित होता था। यह धार्मिक आचरण केवल कर्मकाण्ड नहीं था, बल्कि मानसिक शुद्धि, एकाग्रता और आत्मसंयम का अभ्यास था। इसके पश्चात गुरु-पूजन की सामग्री—पुष्प, जल, कुशा, समिधा आदि—एकत्र करना विद्यार्थी का नियमित कर्तव्य होता था। यह कार्य उसे किसी बाह्य दबाव से नहीं करना पड़ता था, क्योंकि यह आचरण परंपरा से सहज रूप में विकसित होता था। शिष्य अपने गुरु को जैसा आचरण करते देखता था, वही उसके लिये जीवन का स्वाभाविक आदर्श बन जाता था।

प्राचीन शिक्षा-पद्धति में आदर्श चरित्र का अत्यन्त महत्व था। आज की अनुशासनहीनता का एक बड़ा कारण यही माना गया है कि आदर्श व्यक्तित्वों का अभाव है। मानव-मन स्वभाव से अनुकरणशील होता है। वह जिन गुणों और आचरणों को अपने बड़ों में देखता है, उन्हें अनायास ही ग्रहण कर लेता है। इसीलिये गुरु का आचरण स्वयं में शिक्षा होता था और शिष्य उसी का अनुसरण करते हुए अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता था।

मनुस्मृति में विद्यार्थी जीवन में अभिवादनशीलता को एक विशिष्ट और अनिवार्य गुण बताया गया है। मनु का मत है कि जो छात्र अभिवादनशील होता है तथा गुरुजनों और वृद्धों की सेवा करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बल स्वाभाविक रूप से बढ़ते हैं। इस प्रकार गुरु और बड़ों के प्रति सम्मान और विनय विद्यार्थी का परम कर्तव्य माना गया। छात्र जीवन को साधना का जीवन कहा गया है, जहाँ प्रत्येक कर्म आत्मशुद्धि और चरित्र-निर्माण की दिशा में होता है।

विद्यार्थी की दृष्टि में आचार्य वेद-विद्या प्रदान करने के कारण स्वयं ब्रह्मा के समान होते थे। पिता को प्रजापति के तुल्य सम्मान प्राप्त था, माता पृथ्वी के समान पूजनीय मानी जाती थी और भाई अपने ही स्वरूप का दूसरा प्रतिरूप समझा जाता था। इन मनोवैज्ञानिक रूपकों के माध्यम से मनु ने विद्यार्थी जीवन की व्यावहारिक

संरचना प्रस्तुत की है, जिससे परिवार, समाज और गुरु-परंपरा के प्रति सम्यक् भाव विकसित हो सके।

इसी कारण माता-पिता और आचार्य की शुश्रूषा तथा उन्हें प्रसन्न रखना विद्यार्थी के लिये सबसे बड़ी तपस्या मानी जाती थी। इसके बिना अन्य सभी तप अपूर्ण समझे जाते थे। मनु ने अभिवादन के विषय में एक और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक नियम भी बताया है। यदि गुरु की पत्नी नवयुवती हो, तो शिष्य को उसका चरण-स्पर्श नहीं करना चाहिए। ऐसे में केवल भूमि-स्पर्श करते हुए दूर से प्रणाम करना उचित माना गया है, क्योंकि इन्द्रियाँ अत्यन्त प्रबल होती हैं और उनसे मन में विकार उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, जो ब्रह्मचारी जीवन के प्रतिकूल है।

छात्र अनुशासन का स्वरूप :

छात्र अनुशासन का स्वरूप भारतीय ज्ञान-परंपरा में अत्यन्त गम्भीर, व्यापक और मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित रहा है। प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में विद्यार्थी जीवन को एक विशिष्ट और अनुपम स्थान प्रदान किया गया था। मनीषियों ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि छात्र जीवन मूलत: अनुशासन का ही जीवन है। इसी कारण गुरु को 'अनुशासक' अथवा 'उपदेष्टा' कहा गया और शिष्य को 'अनुशास्य'। इसका तात्पर्य यह था कि शिष्य अपने जीवन को गुरु द्वारा निर्धारित नियमों और मर्यादाओं के अनुसार ढालता था तथा उनका पालन करना अपना परम कर्तव्य मानता था।

गुरु की आज्ञा शिष्य के लिए अविचारणीय होती थी, किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं था कि शिष्य अन्धभक्ति में लीन रहता था। प्राचीन परंपरा में गुरु स्वयं यह स्पष्ट करता था कि शिष्य को केवल उसके सद्गुणों का ही अनुकरण करना चाहिए, न कि उसके सभी आचरणों का। इस प्रकार शिष्य विवेकशील बना रहता था और ग्राह्य गुणों को ही आत्मसात करता था। यह दृष्टि भारतीय शिक्षा की उच्च मनोवैज्ञानिक चेतना को प्रकट करती है, जहाँ अनुशासन विवेक के साथ जुड़ा हुआ था, न कि यांत्रिक आज्ञापालन के रूप में।

प्राचीन भारत में विद्या की प्राप्ति का मूल माध्यम गुरु-शुश्रूषा माना गया था। यह धारणा थी कि विद्या सेवा के द्वारा सहज रूप से प्राप्त होती है। प्रत्येक शिष्य का प्रथम कर्तव्य यह था कि वह गुरु को अपनी सेवा, श्रद्धा और विनय से प्रसन्न करे। जब गुरु प्रसन्न होता था, तब विद्या शिष्य के भीतर स्वाभाविक रूप से अवतरित हो जाती थी। मनु की यह अवधारणा गहरे मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित है। आधुनिक मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है कि प्रसन्न चित्त में अन्त:करण निर्मल होता है और

व्यक्ति सूक्ष्म तथ्यों को अधिक गहराई से ग्रहण कर पाता है। इसी कारण आध्यात्मिक और बौद्धिक विद्या के सम्यक् बोध के लिए गुरु की सेवा और प्रसन्नता को अनिवार्य माना गया।

विद्यार्थी का जीवन संयम और नियम से इतना आबद्ध होता था कि उसका स्वभाव स्वत: ही सौम्य, विनम्र और स्थिर बन जाता था। वातावरण का प्रभाव मानव मस्तिष्क पर अत्यन्त गहरा पड़ता है, यह तथ्य प्राचीन मनीषियों को भली-भाँति ज्ञात था। यही कारण है कि छात्र जीवन की अनुशासनशीलता का एक प्रमुख कारण वह वातावरण था, जिसमें विद्यार्थी रहता था। उपनयन संस्कार के पश्चात् अमीर और गरीब का भेद समाप्त हो जाता था और सभी छात्र गुरु के समीप गुरुकुल में निवास करते थे। वहाँ प्रवेश करते ही वे एक ऐसे वातावरण से परिचित होते थे, जो त्याग, सादगी और आत्मसंयम से परिपूर्ण होता था।

गुरुकुल जीवन में विद्यार्थी प्रतिदिन भिक्षा माँगने जाता था। यह व्यवस्था केवल जीवन-निर्वाह के लिए नहीं थी, बल्कि उसमें त्याग, विनय और सन्तोष की शिक्षा निहित थी। जो कुछ उसे प्राप्त होता था, वह नि:स्पृह भाव से गुरु को समर्पित कर देता था। गुरुपत्नी द्वारा जो अन्न या भोजन दिया जाता था, उसी में वह पूर्ण सन्तोष अनुभव करता था। इस अभ्यास से उसके भीतर लोभ, संग्रह-वृत्ति और अहंकार का क्षय होता था तथा संतुलित जीवन-दृष्टि का विकास होता था।

विद्यार्थी के सामने जीवन के दो ही प्रमुख उद्देश्य होते थे—एक अध्ययन और दूसरा गुरु का हित। उसका प्रत्येक कर्म गुरु के कल्याण और गुरुकुल की मर्यादा को ध्यान में रखकर सम्पन्न होता था। इस प्रकार उसका सम्पूर्ण जीवन कर्तव्य-प्रधान बन जाता था। इन्द्रिय-संयम को प्रज्ञा के विकास का मूल साधन माना गया था। संयमशील व्यक्ति में ही प्रज्ञा का वास्तविक और मौलिक स्वरूप प्रकट होता है। यदि इन्द्रियों में से एक भी असंयमित हो जाए, तो प्रज्ञा का क्षरण प्रारम्भ हो जाता है। इस सत्य को समझाने के लिए यह उपमा दी जाती थी कि जैसे चमड़े के पात्र में एक भी छिद्र हो जाने पर सारा जल बह जाता है, उसी प्रकार एक इन्द्रिय का असंयम सम्पूर्ण विवेक को नष्ट कर सकता है। अत: विद्यार्थी जीवन में इन्द्रिय-संयम पर विशेष बल दिया जाता था।

इस प्रकार प्राचीन भारत में छात्र जीवन को अनुशासित बनाने के लिए सदाचार, उन्नत और पवित्र वातावरण, सांस्कृतिक सहकारिता तथा गुरु-परंपरा का समन्वित आश्रय लिया गया। इन सभी के संयुक्त प्रभाव से विद्यार्थी की मानसिक और व्यावहारिक प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से अनुशासित हो जाती थीं, उन्हें बाह्य दण्ड या कठोर नियंत्रण

की आवश्यकता नहीं पड़ती थी।

इसके अतिरिक्त, जीवन में अनुशासन के विकास के लिए शिक्षा का मनोवैज्ञानिक होना अनिवार्य माना गया। प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली पूर्णतः मनोवैज्ञानिक थी। उसके शैक्षिक सूत्र धर्म और दर्शन की सुदृढ़ पृष्ठभूमि पर आधारित थे। विद्यार्थी को जीवन में आने वाली कठिन, भयावह और विषम परिस्थितियों का सामना करने के लिए पहले से ही तैयार किया जाता था। ब्रह्मचर्य जीवन में संयम, त्याग और कठिन साधनाओं के माध्यम से वह सहनशील बन जाता था। इस अभ्यास के कारण भविष्य में आने वाली विपत्तियाँ उसे विचलित नहीं कर पाती थीं।

मनीषियों ने यह भी स्वीकार किया कि अपरिपक्व मति वाले विद्यार्थी का हृदय कच्ची मिट्टी के समान होता है। उसे जिस प्रकार आकार दिया जाए, वह उसी रूप में ढल सकता है। एक बार परिपक्व हो जाने पर उसमें परिवर्तन कठिन हो जाता है। इसी कारण विद्यार्थी जीवन में अनुशासन, विनय और संस्कारों की स्थापना को अत्यन्त आवश्यक माना गया। इसके लिए सुसंस्कृत वातावरण, आदर्श चरित्रवान व्यक्तियों का सान्निध्य, धर्म और दर्शन पर आधारित शिक्षा तथा सांस्कृतिक चेतना का विकास अनिवार्य समझा गया।

समग्र रूप से देखा जाये तो प्राचीन भारतीय ज्ञान-परंपरा में छात्र जीवन को अनुशासन, संयम और संस्कार का आधार माना गया है। ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरु-शिष्य संबंध, गुरु-शुश्रूषा, विनय, अभिवादनशीलता, इन्द्रिय-संयम और कर्तव्यनिष्ठा के माध्यम से विद्यार्थी के व्यक्तित्व का निर्माण किया जाता था। शिक्षा केवल बौद्धिक ज्ञान तक सीमित नहीं थी, बल्कि वह मनोवैज्ञानिक, नैतिक और आध्यात्मिक प्रशिक्षण का समन्वित रूप थी, जिससे छात्र भविष्य के जीवन की कठिनाइयों का धैर्य और विवेक के साथ सामना कर सके। सुसंस्कृत वातावरण, आदर्श चरित्रों का सान्निध्य और धर्म-दर्शन की पृष्ठभूमि पर आधारित शिक्षा के कारण अनुशासन बाह्य दबाव नहीं, बल्कि आन्तरिक संस्कार बन जाता था। यही कारण है कि प्राचीन भारत में छात्र जीवन चरित्र-निर्माण की एक सुदृढ़ आधारशिला था, और आज की अनुशासनहीनता का समाधान भी इन्हीं मूल सिद्धान्तों के पुनः समावेश में निहित है।

☆☆☆